वृद्धि क्या है और कैसे

मूल बंगला लेखक :

श्री प्रफुल्ल कुमार दास, एम०ए०

अनुवादक :

श्री चन्द्रसेन चौधरी, एम०ए०

कृष्टिबान्धव पुस्तकमाला—दो

प्रकाशक :
श्री विद्युत रंजन चक्रवर्त्ती
विवेक-वितान, सत्संग, देवघर

प्रथम प्रकाश :
१ला बैशाख १४०४

मुद्रक :
धीरा प्रिन्टार्स, देवघर।

बान्धव सहयोग—दो रुपये

वृद्धि क्या है और कैसे

मनुष्य जो कुछ भी हो जाय कुछ भी पा ले —उसकी और अधिक पाने की अभिलाषा चिरन्तन है। वह यदि पृथ्वी का अधीश्वर भी हो जाय, तो वह भी कुछ ही दिनों में उसके लिये महत्व-हीन हो जायगा। उसमें उसे कोई नूतनता खोजने पर भी नहीं मिलेगी। जो अनधिकृत है उसे अधिकृत करने के लिए उसका मन व्याकुल हो उठेगा। ज्ञान, गुण, ऐश्वर्य और शक्ति,—जिसको जितना अधिक या कम क्यों न हो, वह जितना भी हो— उतने से वह अधिक दिनों तक संतुष्ट नहीं रह सकता। अग्रगति नहीं रहने पर मनुष्य का दम घुटने लगता है, उसके जीवन में कोई रस नहीं रह पाता है,—वह दिनानुदिन स्थविर हो जाता है। निरन्तर आगे नहीं चल पाने से उसको कोई सुख ही महसूस नहीं होता।

इसलिये कहा गया है—'भूमैव सुखं, नाल्पे सुख-मस्ति।' भूमा (बहुत अधिक) का सुख—बृहत् का नशा—उसके नस-नस में समाया हुआ है। वह केवल जीवित रहने—अस्तित्व कायम रखने—से ही सुखी नहीं है, वह अनन्त वृद्धि के पथ पर बढ़ना चाहता है। इसीलिये, जिसदिन यह वृद्धि रूक जाती है, उसीदिन उसके आन्तरिक जीवन की अपमृत्यु हो जाती है। उसी समय से वह केवलमात्र दिनगत पापक्षय करते हुए चलता है। उसके उल्लास, स्फूर्त्ति और उद्दीपन धीरे धीरे बुझने लगते हैं। उसको उपभोग और आनन्द भी नहीं रहता है।

तब यह वृद्धि क्या है? वृद्धि का तात्पर्य है—मनुष्य के ज्ञान, बोध, जानकारी, अनुभूति, मनन, शक्ति, सामर्थ्य, हृदयवत्ता, वैशिष्ट्यानुपातिक कर्म और सेवा,—संक्षेप में चरित्र और व्यक्तित्व का संहत विस्तार और गाम्भीर्य। 'संहत' शब्द का प्रयोग इसलिये कि जिस व्यक्ति में वे सभी गुण अविन्यस्त, विशृंखल और असम्बद्ध रहते हैं—एक

दूसरे का अनुपूरक होकर एकसूत्र-संगति से व्यक्तित्व में ग्रथित नहीं होते,—तब ये सब सम्पत्ति नहीं होकर विपत्ति बन जाते हैं।

सत्प्रवृत्ति भी प्रवृत्ति है, असत्प्रवृत्ति भी प्रवृत्ति है। इसे दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है,—प्रवृत्ति में स्वतः सत्-असत् जैसा कुछ नहीं है। प्रवृत्ति तो प्रवृत्ति है। सत्-असत् तो होता है—उसके व्यवहार में। इसलिए देखा जाता है कि बहुत से सद्गुण-सम्पन्न मनुष्य भी डूबते हैं—डुबोते हैं, क्योंकि वे सत्ता-संवर्द्धनकारी मूर्त्त-आदर्श में सक्रिय रूप से केन्द्रायित नहीं हैं। ऐसी अवस्था में दुष्ट पारिपार्श्विक उसके सद्गुणों को अपनी इच्छा के अनुरूप असत्-कार्यों में लगा सकते हैं, —लगा देते हैं। फिर अवगुणोंवाला मनुष्य भी सार्थक हो जाता है—महत् हो जाता है, यदि उसके अवगुण इष्ट-कार्य में नियोजित हो जाते हैं। इसलिये बड़ा बनने के पथ में सक्रिय-सुकेन्द्रिकता ही प्रथम प्रयोजनीय है। उसके बिना मनुष्य जितना जो कुछ भी करे, सब

निष्फल हो जाता है और वह निष्फलता—उसके और परिवेश के लिये—मात्र दुर्भोग का कारण बनता है। ऐसा इसलिए कि उस स्थिति में वह क्रमागत प्रवृत्तियों का धागा खींचते हुए उसे लम्बा ही करता रहता है तथा उसी के फंदे में स्वयं अपने को और दूसरों को भी लपेट लेता है। उसके द्वारा उसकी या अन्य किसी की सत्ता उपकृत नहीं होती है। फलतः सक्रिय श्रेय-श्रद्धा का अवलम्बन नहीं करने पर जीवनीय जीवन-चलन आरम्भ ही नहीं होता है। ऐसी अवस्था में वह जितना भी दम्भ प्रकाशित क्यों न करे, उसकी अग्रगति होती है क्षय की ओर। इसीलिये वृत्ति की बात सोचने के पहले प्रथमतः सद्‌गुरु-ग्रहण की बात सोचनी होगी।

इस प्रसंग में लोग प्रश्न कर सकते हैं कि बाहरी जगत्‌ में ऐसे कर्म-कुशल लोग ही अधिक देखे जाते हैं जो सद्‌गुरु के आश्रित नहीं हैं, फिर भी वे प्रवृत्ति की ही प्रेरणा से कर्मशील बने हैं। इसके विपरीत, ऐसे भी बहुत लोग देखे जाते हैं,

जिन्होंने सद्‌गुरु तो ग्रहण किया है किन्तु वे जीवन में अकृतकार्य हैं। उसका उत्तर है,—विकेन्द्रिक दक्षता शिवहीन दक्ष-यज्ञ में ही परिणत होता है। जो अन्ततः शुभप्रसू नहीं हो, जो सपरिवेश व्यक्ति को आत्मोपलब्धि – ईश्वरोपलब्धि के पथ पर बढ़ने नहीं दे, जो मनुष्य के अनियन्त्रित अहं और प्रवृत्ति को ही स्फीत कर दे,—वह जितना भी चमकप्रद क्यों न हो, उसमें मनुष्य को अन्ततः लाभ क्या है? उस जाल में फँसने से तो मनुष्य और भी संकटमय अवस्था में पड़ेगा और दूसरों को भी उसी अवस्था में डालेगा। इसीलिये कहा गया है—

"येनाहं नामृत स्याम्‌ किमहं तेन कुर्य्याम्‌।"

फिर, सतही तौर पर केवल सद्‌गुरु को ग्रहण करने से कुछ नहीं होगा। चाहिये अनुरागपूर्वक उनका अनुसरण करना,—तभी मनुष्य अपने वैशिष्ट्यानुयायी वृद्धि के पथ पर अग्रसर होगा। हमलोग प्रायः बाहरी चमक-दमक का मापदण्ड लेकर मनुष्य की सार्थकता का विचार करते हैं, किन्तु उससे प्रायः

भूल ही होती है। एक व्यक्ति कितना आत्मजित्, कितना आत्मवित्, कितना सुनियन्त्रित, सहृदय, सदानन्द और कल्याणकर्मा हुआ या नहीं हुआ है, इस पर हम विचार ही नहीं करते। फिर आराम और आनन्द का अन्तर भी हमारे समक्ष सुस्पष्ट नहीं है।

लुढ़कते हुए नीचे जाने में हम एक स्वाभाविक आराम, उल्लास और स्वाच्छन्द्य का बोध करते हैं, किन्तु पाँव से चलकर पहाड़ पर चढ़ने में बहुत कष्ट मालूम होता है। उसमें आराम नहीं, कष्ट तो है—पर साथ-साथ है उसमें आनन्द और है शक्ति वृद्धि का अनुशीलन। प्रवृत्ति के पथ पर अबाध रूप से चलने में मनुष्य एक प्रकार का आपात् आराम और स्फूर्ति बोध करता है, किन्तु वह उसकी सत्ता को क्षय करने के सिवा वृद्धि के पथ पर परिचालित नहीं करता है। इष्ट के पथ पर चलने से हर मुहूर्त्त में प्रवृत्ति के साथ द्वन्द्व होता है—अपने साथ लगातार युद्ध करते हुए चलना पड़ता

है। सयत्नलालित आत्मकेन्द्रिक प्रत्याशा, आकांक्षा, कल्पना, धारणा, स्वार्थ, साध, मान, अभिमान, अहंकार इत्यादि को निर्मम रूप से समाधि-रचना अपने ही हाथों से करनी पड़ती है। अन्तःकरण रक्ताक्त क्षत्-विक्षत् हो जाता है—क्षण-क्षण मन अवसन्न होने लगता है, किन्तु तब भी प्रवृत्ति को अतिक्रमित करके चलने में—इष्टानुग-नियन्त्रण में नियन्त्रित होकर चलन में एक आनन्द है और उसी में है सत्ता की वृद्धि का संचय। सामान्य मनुष्य ऐसे अन्तहीन संग्राम से बचकर तो चलना चाहता है, किन्तु इस द्वन्द्वमय-तमिस्रा और विपत्ति को भेदने के सिवा उसे आलोक के पार उत्तीर्ण होने की—आत्मजित् या आत्मवित् होने की सम्भावना नहीं है।

शास्त्र कहता है—'आत्मानं विद्धि', 'Know thyself', 'अपने को जानो'। इस स्वरूप का यदि ज्ञान नहीं हुआ तो जीवन धारण करना ही व्यर्थ हुआ। कितने पेड़-पौधे, कितने पशु-पक्षी, कितने कीट-पतंगे स्वच्छन्द जीवन धारण करते हैं। तब

तो उनमें और हममें कोई अन्तर नहीं रहा! कितने लाख योनियों में भ्रमण करके हम मनुष्य हुए हैं। मनुष्य होने के नाते हमलोगों के लिए काम्य है,—अपने अन्तर्निहित अनन्त सम्भाव्यताओं को स्फुरित कर देना, अनलस आत्मशुद्धि के द्वारा अपने चरित्र को मालिन्यरहित हीरकद्युति सम्पन्न कर देना, अज्ञता के आवरण को भेदकर अपने असली रूप को जानना। इसके लिए कोई भी मूल्य चुकाने के लिए हमलोगों को प्रस्तुत रहना होगा। ऐसा करने के लिये आवश्यक यह है कि वैसा पुरुष—जिनमें मानवता की पूर्ण अभिव्यक्ति है और जो स्वरूप के ज्ञान में अधिष्ठित हैं,—प्रत्याशाशून्य होकर उन्हीं के लिये उनसे प्रेम करना, आत्मसमर्पण करना, उनके चरित्र को अपने वैशिष्ट्यानुयायी आत्मीकृत कर लेना। इसी को कहते हैं—ईश्वर प्राप्ति; इसी पथ में प्रवृत्ति को प्रवृत्ति के रूप में पहचाना जाता है, आत्मनियंत्रण की क्षमता प्रस्फुटित होती है और आत्मनियंत्रण के साथ-साथ

परिवार नियन्त्रण, समाज नियन्त्रण, राष्ट्र नियन्त्रण—यहाँ तक कि विश्व नियन्त्रण की भी शक्ति हमलोग प्राप्त करते हैं। कारण, तब हमलोग धारण-पालन-नियन्त्रण संवेगसिद्ध व्यक्तित्व के अधिकारी हो जाते हैं। यही हुई बृद्धि की पराकाष्टा।

इस लक्ष्य को भूलकर येन-तेन-प्रकारेण सुख-स्वाच्छन्द्य का हमलोग जितना ही सन्धान क्यों न करें, उससे हमलोग कभी भी वास्तविक तृप्ति नहीं पा सकते हैं। कितनी ही कुलटायें हैं जो प्रभूत ऐश्वर्य की अधिकारिणी हैं, किन्तु गरीब घर की सुनिष्ठा सती स्त्री सहस्रों दुख-दारिद्र्य के बीच भी जो निविड़ शान्ति और तृप्ति का उपभोग करती है, प्रिय प्राणत-स्पृहा में जैसा आनन्द की उसे अनुभूति होती है, श्रेयानुग सक्रिय-आत्मनियन्त्रण और आत्मदान के द्वारा उसके बोध और चैतन्य के राज्य मे जो ज्ञान और शक्ति का उन्मेष होता है, अपने और जगत् के सम्बन्ध में उसको जितना ज्ञान और बोध का अनुभव होता है, उसका व्यक्तित्व जिस

प्रकार ऐश्वर्य और माधुर्य में विकसित होता है,—उसकी तुलना में वह प्रवृत्तिताड़िता रमणी अतुल ऐश्वर्य के बीच में रहकर भी क्या उसकी कानी-कौड़ी भी प्राप्त कर सकती है? इस क्षेत्रों में—उन दोनों में—हमलोग किसको बड़ा कहेंगे, किसको सार्थकजन्मा कहेंगे? सीधी बात है—हमलोग अपनी सत्ता के विशुद्ध रूप को क्षुण्ण, छिन्न, खण्डित और अपहृत करके जो भी प्राप्त कर लें, उसका कोई मूल्य नहीं है; परन्तु जिस चारित्रिक सम्पदा को हमलोग खो देते हैं उसे वापस पाना दुष्कर हो जाता है। यदि हमलोग भोग और ऐश्वर्य ही चाहते हैं, तो वह भी होना चाहिये धर्मसम्मत, अर्थात् सत्तापोषणकारी—नहीं तो वह सुख का कारण नहीं होता है। परिणामतः मनुष्य कुछ ऐसा चाहता है—

"यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः,
यस्मिन स्थितो न दुखेन गुरणापि विचाल्यते।"

जो पाने पर वह अन्य किसी लाभ को उससे बड़ा अनुभव नहीं करे एवं जिसमें अवस्थित होने

पर गम्भीर दुख में भी विचलित नहीं हो,—वही वस्तु उसे चाहिये अन्यथा उसकी क्षुधा मिटेगी नहीं। "मैं भूखा हूं—मैं भूखा हूं"—चिल्ला-चिल्लाकर वह गगन-पवन विदीर्ण करता रहेगा। कहाँ है वह वस्तु! जिसके लिये वह प्रसन्न-चित्त से अपरिसीम दुख, कष्ट और त्याग का वरण कर लेगा? वह वस्तु कहाँ है! जिसमें लिप्त होकर उसका देह, मन, प्राण, आत्मा निरन्तर चिदानन्द से भरपूर हो सके? वह कर्ममय चेतन-समाधि में हमेशा मग्न रहे? वही वस्तु हैं ईश्वर। और श्रीविग्रह पुरुषोत्तम होते हैं—उसके व्यक्त प्रतीक।

इसके लिये उनसे युक्त होकर उनका निदेश अक्षरशः मानकर चलना होगा; अपने को पूर्णतः उनके हाथ में अबाध रूप से सौंप देना होगा जिससे कि हमलोगों को वे अपने मनोनुकूल निर्माण कर सकें, इसी प्रकार का सक्रिय सहयोग उनको देना होगा। हमलोगों का एक निःश्वास—एक पदक्षेप भी जिससे उनकी इच्छा के प्रतिकूल नहीं पड़े।

उनके पथ में निर्भूल रूप से चलने में जितना भी दुख-दहन हो, उनके लिये सानन्द राजी रहना होगा। सोना यदि स्वर्णकार के हाथ में पड़कर आग में गलने या चोट सहने में राजी नहीं रहे तो क्या स्वर्णकार उस सोना को इप्सित रूप दे सकता है? जो नूतन सृष्टि, नवीन रूपान्तर चाहता है, उसको तो सृष्टि की वेदना वहन करनी ही होगी। इस प्रकार चेतन बोध-स्मृति के साथ तिल-तिल अतन्द्र साधना में अपने को निर्मल, निष्कलुष और सेवा के योग्य करना होगा।

हमलोगों के अन्दर जड़ता, तामसिकता, आलस्य आदि रहते ही हैं। निरन्तर प्रयास करके चलना हमलोगों के चरित्र में नहीं है। हमलोग Path of least resistance (निर्विघ्न पथ) खोजकर गतानुगतिक रूप से आरामपूर्वक चलना चाहते हैं। किन्तु हमारी वृद्धि के लिए वे दुर्दमनीय संग्राम के पथ पर हमलोगों को पुकारते हैं, दबाव पर दबाव डालते हैं, दायित्व पर दायित्व देते हैं, दम लेने तक

की फुर्सत नहीं देते। ऐसा, जैसा कि अविच्छेद्य कुम्भक की प्रक्रिया में सम्पूर्ण जीवन व्यतीत करना पड़ता है। उनकी वाणी हुई—निरन्तर निरलस रूप से आगे चलने की वाणी। हमलोग चारित्रिक दुर्बलताओं को चाहे कितना भी अतिक्रमित करके क्यों न चलें, वे कभी भी स्वल्प में हमें सन्तुष्ट होने नहीं देते हैं—सर्वतोभाव से पवित्र और योग्य बना देने के लिये वे लगातार हमें सचेत करते हैं और प्रेरणा देते रहते हैं। तपस्या की विरति, कमी या रुकावट वे बर्दाश्त नहीं करते हैं। इस प्रकार से अखण्ड तपोनिरत रखकर वे हमलोगों को खींचकर लम्बा बना देते हैं।

वे प्रेमस्वरूप हैं। विश्व के प्रत्येक को वे अपने अंग-प्रत्यंग के रूप में अनुभव करते हैं, इस लिये प्रत्येक के प्रति उनमें दया, सक्रिय सहानुभूति सक्रिय दायित्व का बोध है। उनको यदि हम प्यार करते हैं तो उनका दायित्व भी हमलोगों का दायित्व हो जाता है। हमें उतना विपुल दायित्व

लेकर तब चलना ही होगा। इस चलन के पथ में कितना संघात, कितनी उलझन, कितना खतरा, कितना झमेला, भीतर-बाहर के कितने विघ्न, अनेक प्रकार के विरोध आते हैं। किन्तु उनको प्रसन्न करने की इच्छा यदि उदग्र और अकाट्य होती है तब किसी भी परिस्थिति में हम घबड़ाते नहीं हैं, पीछे नहीं हटते हैं। मयूर जिस प्रकार मेघ देखते ही पंख फैला देता है, हमलोग भी उसी प्रकार कठिन विपत्ति से पंजा लड़ाने के लिये कसकर तैयार हो जाते हैं—नियन्त्रण-सामंजस्य-समाधान के संकल्प एवं विरोधशून्य असत्-निरोधी पराक्रम के साथ। जो कुछ इष्टकेन्द्रिक संहति, सहयोगिता, सम्प्रीति और ऐक्य का परिपन्थी है—उसको विनायित किये बिना हम नहीं छोड़ते हैं। इस प्रकार से बाधा को जितना बाध्य कर सकते हैं, उतना ही हम-लोगों को अनुभूति, शक्ति और आनन्द की वृद्धि होती है।

वे ज्ञानस्वरूप हैं। उनको ज्ञातव्य सभी विषयों

में अनुराग रहता है। हमलोगों जैसी एकपक्षीय संकीर्ण जिज्ञासा उनकी नहीं रहती है,—उनकी जिज्ञासा रहती है सर्व्वात्मक एवं सर्व्वस्पर्शी; वस्तुतः वे निरतिशय सर्व्वज्ञानबीज के मूर्त्त-विग्रह है। उनके पथ पर चलने से, उनका परिपूरण करने से, हमलोगों में भी तीव्र जिज्ञासा प्रस्फुटित हो जाती है। उसी जिज्ञासा को केन्द्र करके हमलोगों के ज्ञान और परिचय की परिधि विपुल और विस्तृत हो जाती है—चेतना विस्तार लाभ करती है। साथ-साथ चलता है—नाम, ध्यान, भजन, आत्म-नियन्त्रण, आत्मविश्लेषण; जिसके माध्यम से हमलोग सूक्ष्म से सूक्ष्मतर अनुभूति की दिशा में बढ़ते जाते हैं। इस प्रकार से सर्व्वतोमुखी सुकेन्द्रिक अनुशीलन के फलस्वरूप हमलोग एकसूत्र-संगत समाहारी प्रज्ञा और बोध के अधिकारी होते हैं। तभी हमलोग समझते हैं कि इष्ट और मेरे बीच,—मेरे, जगत् और जीवन के प्रत्येक के बीच, क्या सम्पर्क है। तब समझ में आती है कि सबकुछ ही इष्ट में

विधृत हैं,—वे ही परम उत्स हैं—और हमलोग उन्हीं से उत्सारित हुये हैं। वे प्रकृत रूप से अनन्त, अपार, क्षर-अक्षर के भी अतीत, बोधातीत और ज्ञानातीत अहेतुक कृपासिन्धु हैं। फलतः उनके सम्बन्ध में जो भी कहा जाय—वह अपूर्ण है। फिर भी, प्रेम के बल पर उनमें जो जितनी तन्मयता लाभ कर सके, वह उतना ही सार्थक हो जाता है। तब चली जाती है—प्रवृत्ति की अभिभूति, चला जाता है—अष्टपाश का आवरण, चली जाती है—आत्म-स्वार्थप्रतिष्ठा की बुद्धि। तब इस जीवन में ही जीवन-मुक्ति का आस्वादन किया जा सकता है। ऐसे में, हमलोग जिस अवस्था में जो कुछ भी लेकर रहें, उससे अभिभूत नहीं होते हैं। तब अभिभूति की अवस्था को निरस्त करके दृढ़ रूप से इष्ट में ही अच्युत योगयुक्त होकर रहते हैं। हमलोगों का तब सबकुछ हो जाता है,—उनकी सेवा—उसकी पूजा; हमारा जो कुछ भी है,—सबको उसमें ही सार्थक कर देते हैं। तब

हम जहाँ कहीं भी और जिस अवस्था में ही रहें, उनसे अलग नहीं रहते हैं। हमलोगों का प्रत्येक चलन ही विश्वात्मा के संग संगतिशील हो जाता है। हमलोग तब समग्र जीवन देकर केवल उनको ही प्रकाशित करते हैं—उनको प्रतिष्टित करते हैं। फलतः तब हमलोग उनके यन्त्र-स्वरूप हो जाते हैं। वे हमलोगों के आधार का आश्रय करके अपनी ही प्रेरणा और शक्ति-प्रवाह की क्रिया करते हैं। तब शंका उद्वेग या संशय को प्रश्रय नहीं देकर,—विश्वास की दृढ़ भूमि पर खड़ा होकर—उनके ही बल से बलवान होकर—हम दुरूह और दुःसाहसिक अभियान की ओर सानन्द अग्रसर होते हैं। फिर अमलिन तारुण्यदीप्त, प्रेरणा प्रबुद्ध तीव्र कर्मप्रवणता और गतिवेग में भी एक प्रकार का सुगभीर स्थैर्य, प्रशान्ति और साम्यभाव रहता है,—निरवच्छिन्न आनन्द एवं तन्मयता हमलोगों के साथी बन जाते हैं। संसार का प्रत्येक तब अपनी ही अलग एक-एक अभिव्यक्ति मालूम पड़ता है। तब दायित्वशील

प्रेम स्वयं ही सहज और स्वतः हो जाता है।

"यस्तु सर्व्वानि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति,
सर्व्व भूतेषु चात्मानं न ततो विजुगुप्सते।"

(जो सर्व्व भूतों में अपने को देखते हैं; वे किसी से घृणा नहीं करते।)

ऐसे भावसिद्ध साधक तब मनुष्य की सेवा इस भाव से करते हैं कि प्रत्येक मनुष्य अपने वैशिष्ट्य के पथ में जीवन के इस ब्राह्मी-विवर्त्तन की ओर आगे बढ़ सके। उनकी समाज-सेवा, राष्ट्र-सेवा, विश्व-सेवा;—विधि, प्रणयन, शिक्षाव्रत, शिल्पचर्य्या, साहित्य और विज्ञान का अनुशीलन इत्यादि इसी को लक्ष्य करके परिचालित होते हैं।

जिनका जीवन ऐसे वर्द्धनछन्द में छन्दायित हो जाता है, वे यदि अकिंचन भी हों, तो उनका वही अकिंचनत्व लाखों साम्राज्य से भी अधिक विस्तृत हो जाता है। जिनका ऐसा चरित्र है,—उनके धन-सम्पद और जन-सम्पद में—किसी प्रकार का अभाव नहीं रह जाता है। जय, यश, ऐश्वर्य,—

ऐसे व्यक्ति की सेवा दासी के समान करते हैं। कारण—Nature adhors vaccum. (प्रकृति शून्यता को अपसन्द करती है)। जो दक्ष, योग्य और कर्मठ होकर भी आत्मसुख की कामना बिल्कुल नहीं करते,—जो निर्वासना से सुप्रतिष्ठित हैं,—प्रकृति ही उनको परिपूर्ण कर देती है। ऐसे व्यक्ति फिर भी ऐश्वर्य में लिप्त नहीं हो सकते। "जे मुहूर्त्त पूर्ण तुमि से मुहूर्त्ते किछु तब नाही। तुमि ताइ पवित्र सदाइ—", अर्थात् आदमी जब अपनी सम्पूर्ण प्रवृत्तियों और कामनाओं के साथ मनसा-वाचा-कर्मणा सिर्फ उसी परमपुरुष के लिये सोचता और करता है, तब उसी समय वह पूर्ण होता है। दूसरे शब्दों में,—उसकी सारी भोगाकांक्षाएँ उसी परमपुरुष में समाहित हो जाती है और ऐसी दशा में दुनिया की कोई सुखेच्छा उसे प्रलुब्ध नहीं कर पाती। ऐसे ही ज्ञानाग्निदग्ध कर्मयोगी, विधि-ज्ञाता प्रबुद्ध व्यक्तियों द्वारा पवित्र कहे जाते हैं।

ऐसे इष्टकेन्द्रिक महानुभावों के लिये सबकुछ

रहते हुए भी कुछ नहीं रहता, वे सभी कुछ को कृष्णेन्द्रिय प्रीतिकामनार्थ एवं तदनुग लोककल्याणार्थ ही नियोजित करते हैं। इष्टसेवा के यन्त्र-स्वरूप अपने शरीर को स्वस्थ और सहनपटु रखने के लिए जितना आवश्यक है, उससे अधिक वे अपने लिये नहीं चाहते हैं। आर्य ब्राह्मण का यही रूप है। यही ब्राह्मणत्व हमारी वृद्धि का आदर्श है। एक समय ऐसे ही ब्राह्मणों के चरण प्रान्तों में दुनिया सिर नवाती थी। प्रकृतरूप से ऐसे ही ब्रह्मज्ञ व्यक्ति भारत के गौरव हुआ करते थे। अपने वर्णगत वैशिष्ट्य को अक्षुण्ण रखते हुए यही ब्राह्मणत्व या ब्रह्मज्ञत्व को प्राप्त करना सभी का लक्ष्य होता था। गीता में भगवान कहते हैं—

"स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः"

(अध्याय १८, श्लोक ४६)

सहजात संस्कार-संगत कर्म के द्वारा परमपुरुष की अर्चना करके मनुष्य सिद्धि लाभ करता है। इस पथ को छोड़कर आत्मोन्नयन सम्भव नहीं है।

स्वधर्म भ्रष्ट साधना निष्फल ही होती है। थोड़ी-सी भी हीनमन्यता रहने पर मनुष्य इस स्वर्ग-राज्य में प्रवेश करने का अधिकार नहीं पाता है। जो अपने सांसारिक सुखेच्छाओं के सम्बन्ध में प्रश्नशून्य होकर युगपुरुषोत्तम के प्रति सक्रिय श्रद्धा सहित बद्धपरिकर होकर अपने वैशिष्ट्यानुसार पथ पर निरन्तर तद्-अभिमुख गतिशील हैं,—ऐसे महान् पुरुष ही इस ब्राह्मी चलन और ब्राह्मी चरित्र को अधिगत करने में समर्थ हैं।

केवल स्वयं ही इस पथ पर चलने से किन्तु नहीं होगा, दूसरों को भी इस पथ पर चलने के लिये प्रेरित करना होगा। इस प्रकार की सत्-संहति जितनी बढ़ेगी, उतना ही हम अधिक लाभान्वित होंगे—और तभी—हम दुनिया को बचा सकते हैं। साथ ही, हमें इस चरित्र को इतना अधिक सत्ता-संगत बना देना होगा कि यह गुण भविष्य में मनुष्य की वंश-परम्परा में जैव-सूत्र के द्वारा संक्रामित होती चले,—तभी हमारी वृद्धि या हमारा विवर्त्तन

अबाध गति से चलेगा।

भय या दुर्बलतावश—हीन आशा या कामनाओं के वशीभूत होकर—हमें सुकेन्द्रिकता के इस वीर्यपथ से विच्युत नहीं होना चाहिये। ऐसा होने पर हम मनुष्यत्व के महत् अधिकार से वंचित होंगे और हमारी 'महती विनष्टि' हो जायेगी।

परमपिता का कार्य करके जीवन को सार्थक करने का स्वर्णिम सुयोग हमारे सामने है। यह सुयोग हमारे हाथों से कहीं निकल न जाय, हम एक क्षण भी न खोयें और न किसी को खोने दें।

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत।"

—★—